# झाँसी की रानी और 1857 का संग्राम : एक मूल्यांकन

*डॉ0 किशन यादव,*

*अध्यक्ष*
*राजनीति विज्ञान विभाग व शोध केन्द्र*
*बुन्देलखण्ड कॉलेज,झाँसी (उ.प्र.)*

हम इस समय इतिहास के उन महान युगों में है, जब मानवता भविष्य में एक छलॉग लगा रही है और अपने राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय आचरण की धुरी बदल रही है। बौद्धिक परिप्रेक्ष्य की सहसा घटित व्यापकता, जीवन में बढ़ती निरपेक्षता, स्वीकृति मूल्यों का तीव्र विघटन मनुष्यों के मस्तिष्क और हृदयों को मानवीय एकता की एक नयी धारणा के लिए तैयार कर रहे हैं, जो सभी मनुष्यों के समान अधिकारों पर आधारित होगी, चाहे उनका वर्ण या वर्ग, रंग या समुदाय, जाति या धर्म कुछ भी हो। जीवन के दृष्टिकोणों में और व्यवहार में एक आमूल परिवर्तन की मॉग है, जिससे कि मनुष्य में निहित गरिमा और आदमी के भाई चारे को पहचाना जा सके।

इसी दृष्टिकोण को ध्यान में रखते हुए यह शोध प्रबंध –''प्रथम स्वतंत्रता संग्राम (1857) का विश्लेषण रानी लक्ष्मीबाई की भूमिका के विशेष संदर्भ में झाँसी क्षेत्र का अध्ययन'' किया गया है। बुन्देलखण्ड की भूमि, पानी हवा में, वीरता बसती है रानी लक्ष्मीबाई ने प्रथम स्वतंत्रता संग्राम में जो कर दिखाया वह इतिहास में एक मिसाल बन गया है।

भारतीय वसुंधरा को गौरवान्वित करने वाली झांसी की रानी वीरांगना लक्ष्मीबाई वास्तविक अर्थ में आदर्श वीरांगना थीं। सच्चा वीर कभी आपत्तियों से नहीं घबराता है। प्रलोभन उसे कर्तव्य पालन से विमुख नहीं कर सकते। उसका लक्ष्य उदार और उच्च होता है। उसका चरित्र अनुकरणीय होता है। अपने पवित्र उद्देश्य की प्राप्ति के लिए वह सदैव आत्मविश्वासी, कर्तव्य परायण, स्वाभिवानी और धर्मनिष्ठ होता है। ऐसी ही थीं वीरांगना लक्ष्मीबाई।

महारानी लक्ष्मीबाई का जन्म काशी में 19 नवंबर 1835 को हुआ। इनके पिता मोरोपंत ताम्बे चिकनाजी अप्पा के आश्रित थे। इनकी माता का नाम भागीरथी बाई था। महारानी के पितामह बलवंत राव के बाजीराव पेशवा की सेना में सेनानायक होने के कारण मोरोपंत पर भी पेशवा की कृपा रहने लगी। लक्ष्मीबाई अपने बाल्यकाल में मनुबाई के नाम से जानी जाती थी। इधर सन् 1838 में गंगाधर राव को झांसी का राजा घोषित किया गया। वे विधुर थे। सन् 1850 में मनुबाई से उनका विवाह हुआ। सन् 1851 में उनको पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई। झांसी के कोने–कोने में आनंद की लहर प्रवाहित हुई। लेकिन चार माह पश्चात् उस बालक का निधन हो गया। सारी झांसी शोक सागर में निमग्न हो गई। राजा गंगाधरराव को तो इतना गहरा धक्का पहुंचा कि वे फिर स्वस्थ न हो सके और 21 नवम्बर 1853 को चल बसे। यद्यपि महाराजा का निधन महारानी के लिए असहनीय था, लेकिन फिर भी वे घबराई नहीं, उन्होंने विवेक नहीं खोया। राजा गंगाधर राव ने अपने जीवनकाल में ही अपने परिवार के बालक दामोदर राव को दत्तक पुत्र मानकर अंग्रेजी सरकार को सूचना दे दी थी। परन्तु ईस्ट इण्डिया कंपनी की सरकार ने दत्तक पुत्र को अस्वीकार कर दिया।

27 फरवरी 1854 को लार्ड डलहौजी ने गोद की नीति के अन्तर्गत दत्तकपुत्र दामोदर राव की गोद अस्वीकृत कर दी और झांसी को अंग्रेजी राज्य में मिलाने की घोषणा कर दी। पोलेटिकल एजेंट की सूचना पाते ही रानी के मुख से यह वाक्य प्रस्फुटित हो गया, मैं अपनी झांसी नहीं दूंगी। 7 मार्च 1854 को झांसी पर अंग्रेजों का अधिकार हुआ। झांसी की रानी ने पेंशन अस्वीकृत कर दी व नगर के राजमहल में निवास करने लगीं। यहीं से भारत की प्रथम स्वाधीनता क्रांति का बीज प्रस्फुटित हुआ। अंग्रेजों की राज्य लिप्सा की नीति से उत्तरी भारत के नवाव और राजे महराजे असंतुष्ट हो गये और सभी में विद्रोह की आग भभक उठी। रानी लक्ष्मीबाई ने इसको स्वर्णावसर माना और क्रांति की ज्वालाओं को अधिक सुलगाया तथा अंग्रेजों के विरूद्ध विद्रोह करने की योजना बनाई।

सन् 1600 ई. से लेकर लगभग 1757 ई. तक जितने भी अंग्रेज भारत में थे वे एक व्यापारिक कम्पनी के सदस्य के रूपा में रह रहे थे। उनको इस बात का अहसास था कि वे विदेशी हैं। इस बात के प्रमाण हैं कि भारत के तत्कालीन राजनैतिक जीवन को संचालित करने वाले लोग, चाहे वे मुगलिया साम्राज्य से सीधे तौर पर सम्बन्धित हों या परोक्ष रूपा से उनके कृपा पात्र हों, ठीक से समझ नहीं पाये थे कि अंग्रेजों के आगमन के क्या प्रभाव भविष्य में हो सकते हैं। इस बात के कई प्रमाण मौजूद हैं कि अंग्रेज व्यापारियों की कई ऐसी सुविधायें भी दे दी गई थी जो भविष्य में खतरनाक साबित हुई, उदाहरणार्थ औरंगजेब द्वारा अंग्रेजों को अपनी छावनियों की घेराबन्दी करने की इजाजत और शाही सेना की टुकड़ियों द्वारा उनकी सुरक्षा का प्रबंध करना। इन पूर्णतया सुरक्षित छावनियों के माध्यम से अंग्रेजों को अपना कूटनीतिक जाल फैलाने मे काफी सुविधा मिल गई। फिर भी 1757 के प्लासी युद्ध तथा 1761 के तृतीय पानीपत के युद्ध तक अंग्रेज मनमाने ढंग से अपनी गतिविधियों का संचालन नहीं कर सके। किन्तु इन युद्धों के बाद बंगाल, बिहार, उड़ीसा तथा दक्षिण भारत के कई भाग उनके अधिकार में आ गये। सिख, मराठे तथा हैदरअली और टीपू सुल्तान सभी शक्तियों का ह्रास हो जाने के बाद तथा मुगलिया साम्राज्य की लगातार अवनति और विघटन के कारण अंग्रेजी प्रभुत्व मजबूती की तरफ बढ़ने लगा और उसका व्यापारिक क्षेत्र एक क्षेत्रीय शक्ति के रूपा में उभकर आया। यह एक खतरनाक लक्षण था, किन्तु भारत की बिखरी हुई राजनैतिक सत्ता इसका सही आकलन नहीं कर सकी। ऐसा लगता है कि 1757 से 1762 केबीच के समय में इस बात की सम्भावना बन सकती थी कि अगर राजनैतिक शक्तियाँ एक जुट होकर प्रयत्न करती तो शायद अंग्रेजों को उखाड़ फेंकना सम्भव हो सकता। किन्तु ऐसा नहीं हुआ, क्योंकि उस वक्त की राजसत्ता से जुड़े लोग अपने अपने सामन्तवादी स्वार्थों की पूर्ति में लगे थे। इतिहासकारों ने तत्कालीन राजनीति के इस पहलू पर ठीक से ध्यान नहीं दिया है। बहरहाल, 1762 तक अंग्रेजों ने अपनी स्थिति काफी मजबूत कर ली थी।

सन् 1757 से 1857 तक भारत में ईस्ट इंडिया कम्पनी द्वारा भारत के शोषण का एक लम्बा दौर चला। इन लगभग 100 वर्षों के दौरान अंग्रेज यह समझ चुके थे कि भारत का दोहन सम्भव है और इसके कई आर्थिक लाभ हो सकते हैं। उन्होंने अपनी समुद्री शक्ति में वृद्धि की और अपनी सैनिक टुकड़ियों को नये माहौल में खप सकने की ट्रेनिंग दी। इसके साथ भारत की परंपरागत अर्थ व्यवस्था पर भयानक प्रभाव पड़ने शुरू हो गये।

अंग्रेजों की युद्ध की परंपरा भी भारतीयों से भिन्न थी उन्होंने कुछ ऐसे तरीके अपना लिये थे जो भारतीय हिन्दुओं तथा मुसलमानों के लिए एक खतरा हो गये थे। कहा जाता है कि उनके पास कुछ ऐसे कारतूस थे जिनका प्रयोग करने के पहले उनको दॉत से काटना पड़ता था।

हिन्दुओं तथा मुसलमानो में यह बात प्रसारित हो गई थी कि इन कारतूसों में गाय अथवा सुअर की चरबी का प्रयोग होता है। इससे सिपाहियों में एक असंतोष की भावना फैल गई। एक प्रश्न अचानक उठ खड़ा हुआ क्या हम अपनी रोजी रोटी के लिए अपना धर्म खराब कर दें ? कई सिपाहियों ने कारतूसों को छूने से साफ इंकार कर दिया। अंग्रेजों द्वारा सख्ती किए जाने पर मंगल पांडे नाम के एक सिपाही ने अपने कमाण्डर को मौत के घाट उतार दिया। हिन्दू सिपाहियों का एक बहुत बड़ा जत्था, अंग्रेजों के खिलाफ बगावत कर उठा। इस वक्त यह घटना वास्तव में एक सिपाही विद्रोह ही था। किन्तु इसकों मेरठ के बाहर फैलने में देर नहीं लगी। 10 मई 1857 को बागी सिपाहियों का एक जत्था मेरठ से दिल्ली पहुॅच गया। देखते ही देखते दिल्ली के हजारों सिपाहियों ने इन बागियों का साथ देना शुरू कर दिया और जल्दी ही दिल्ली पर कब्जा कर लिया। इस कार्य में उन्होंने मुगलिया साम्राज्य के आखिरी बादशाह बहादुरशाह जफर को अपने साथ मिला लिया और उसको इस बात के लिए उकसाने में सफल हो गये कि वह अपने को शंहशाह–ए– हिन्दुस्तान घोषित कर दें। 80 वर्षीय वृद्ध, संवेदनशील शायर जफर ने कुछ हिचकिचाहट के बाद विद्रोह की बागडोर अपने हाथ में लेना स्वीकार कर लिया। धीरे धीरे व्रिदोह की आग पूरे उत्तरी भारत में फैल गई। विशेषकर उत्तरप्रदेश के लगभग सभी बड़े स्थान, लखनऊ, रामपुर, बनारस, इलाहाबाद, कानपुर, झॉसी आदि सिपाहियों के विद्रोह से भड़क उठे और कई सामंतों, नवाबों और जनता के लोगों ने उनका साथ दिया। लखनऊ में हजरत महल ने, रामपुर बरेली में खानबहादुर ने, कानपुर ने नाना साहब ने और झॉसी में महारानी लक्ष्मीबाई ने विद्रोह की कमान सम्भाली। ये सभी भूतपूर्व राजा और नवाब अंग्रेजों की दमन नीति के शिकार हो चुके थे। महारानी लक्ष्मीबाई ने शुरू में अंग्रेजों से कुछ बातें मनवाने का प्रयत्न किया किन्तु अन्त में वे खुले रूपा से विद्रोह में शामिल हो गई और बड़ी बहादुरी से लड़ीं, बंगाल के कुछ हिस्सों में भी इसका प्रभाव पड़ा, किन्तु दक्षिणी भारत में इसका कोई खास प्रभाव नहीं दिखाई दिया। वहाँ के सैनिक बफादार ही बने रहे।

इस प्रकार का विद्रोह जो वास्तव में एक सिपाही विद्रोह के रूपा में प्रकट हुआ था उसका दायरा दूर–दूर तक फैल गया। सिपाहियों के साथ सामंत और नवाब भी हो लिये। यह कहना मुश्किल है कि आम जनता ने किस हद तक विद्रोहियों का साथ दिया। किन्तु इतना अवश्य है कि काफी संख्या में लोगों ने विद्रोहियों की मदद की और भारी संख्या में ऐसे भी लोग मौजूद थे जो अंग्रेजों द्वारा सताये जाने के बाद मरने–मारने पर उतारू हो गये थे। इस वक्त दो मनोवृत्तियाँ काम कर रही थीं। एक ओर तो सामंतों और नवाबों को अपने हक छिन जाने का अफसोस था, दूसरी ओर हिन्दू समाज में इस बात का भी भय फेल गया था कि अंग्रेज उनको धर्मच्युत करना चाहते हैं। इस बात के भी संकेत मिलते हैं कि कई जगहों पर धर्म परिवर्तन के मामले भी हुए जिनसे लोगों में असंतोष था। एक ओर धर्मच्युत होने का भय दूसरी ओर आर्थिक विपन्नता ये दोनों कारण विद्रोह की जड़ में मौजूद थे। सिपाही प्रायः वे लोग थे जिनकी जमीन छिन चुकी थी और वे बहुत छोटी तनख्वाह पर काम करने के लिए मजबूर थे। शुरूआत के दिनों में तो अंग्रेजों ने सिपाहियों की धार्मिक भावना का थोड़ा बहुत ख्याल किया लेकिन ज्यों ज्यों उनकी पकड़ मजबूत होती गई वे इन धार्मिक भावनाओं की अवहेलना करने लगे। इन सेनाओं में ब्राह्मण भी बड़ी संख्या में थे और उनके अन्दर कई प्रकार के खान–पान सम्बन्धी पूर्वाग्रह थे। 1824 में जब बैरकपुर के कुछ सिपाहियों को बर्मा भेजने का हुक्म हुआ तो सिपाहियों ने यह कह कर मना कर दिया कि वे समुद्र पार करने के बाद धर्मच्युत हो जायेंगें, ऐसी स्थिति में अंग्रेजों के लिए धीरे धीरे कठिन होता चला गया कि वे सिपाहियों के

अनुशासन रखने की बात कह सकें। एक साधारण सिपाही को सिर्फ सात रूपाये माहवार का वेतन मिलता था। ऐसी स्थिति में उससे अनुशासन की अपेक्षा करना व्यर्थ था। अंग्रेजी सत्ता के संचालक इन परिस्थितियों को ठीक से ऑक नहीं सके और एक भयंकर विस्फोट की स्थिति उत्पन्न हो गई, दरअसल अंग्रेजी हुक्मरान इस बात को ठीक से समझ नहीं सके कि धार्मिक रूढ़िवादिता छोटे तबके के लोगों में ही अधिक होती है और बिना समुचित आर्थिक लाभ के लालच के उनको अधिक समय तक शांत नहीं रखा जा सकता, इसके अलावा एक बात और भी थी। अंग्रेजों को यह अहसास हो चला था कि उनकी सैनिक विधायें और उनकी बड़प्पन की भावना शायद उनकी मदद कर जाए, किन्तु विद्रोह के वक्त उनको इस दिशा में सफलता नहीं मिली, भले ही 1–2 साल के भीरत वे अपना प्रभाव जमाने में सफल हो गये। अंग्रेजी हुक्मरानों की सबसे बड़ी गलती यह थी कि उन्होंने हिन्दुस्तानी सिपाहियों और अंग्रेज सिपाहियों के बीच भेदभाव की नीति का अनुसरण किया। वे कभी भी हिन्दुस्तानी सिपाहियों को यह अहसास न दिला सके कि उनकी सेना की कद्र की जा रही है। वे एक प्रकार से बेगार ढोनेवाले गरीब किसान होकर रह गये। अंग्रेजों ने एक गलती और की। उन्होंने यह बात नजरअंदाज कर दी कि हिन्दुस्तानी सिपाही गरीब जनता के बीच से ही आये थे, और उनका जनता से सीधा सम्बन्ध था। नतीजा यह हुआ कि जब विद्रोह की शुरूआत हुई तब तो सिपाही अकेले थे किन्तु जब बात आगे बढ़ी तो जनता की पूरी सहानुभूति उनके पक्ष में हो गई। यह कहना तो कतई ठीक न होगा कि किसी एक बिन्दु पर सिपाही विद्रोह जनता का विद्रोह हो गया था, किन्तु यह कहना भी गलत होगा कि जनता का इस विद्रोह से कोई सम्बन्ध नहीं था। यदि एक मजबूत नेतृत्व मिल जाता तो यह विद्रोह एक बड़े पैमाने पर जनता का विद्रोह बन सकता था, किन्तु ऐसा होने के पहले ही इसे निर्ममता से दबा दिया गया।

अंग्रेजी हुकूमत ने शुरू से ही दमन की नीति अपनाई। उनको यह पता लगाने में देर नहीं लगी कि किस वर्ग के लोगों ने विद्रोह का समर्थन किया। चाहे वे सिपाही हों, दस्तकार हों, किसान हों अथवा जमींदार या तालुकेदार हों– अगर वे विद्रोहियों के पक्ष में थे तो उनकी पूरी तरह दबाने की तरकीबें निकाली गई। अवध के ज्यादातर तलुकेदारों की जमीनें छीन ली गई और वे पूरी तरह असहाय हो गये।

विद्रोह के दौरान कुछ समय तक ऐसा लगा कि जैसे अंग्रेजों की सत्ता समाप्त हो जायेगी। यहाँ तक बात बड़ी कि लगभग सभी जगह के बागियों ने बहादुरशाह जफर को हिन्दुस्तान का सम्राट स्वीकार कर लिया। दिल्ली विद्रोह का केन्द्र बन गया। बहादुरशाह के नाम पर सिक्के तक ढाले गए। किन्तु यह स्थिति बहुत कम समय तक टिक पाई। बहादुरशाह जफर को अंग्रेजों ने कैद कर लिया और उसे रंगून भेज दिया गया। अगर उस वक्त बहादुरशाह का राजनैतिक नेतृत्व ने सही ढंग से काम किया होता तो संभवतः स्थिति भिन्न होती। बहादुरशाह शायरी में ज्यादा और राजनीति में कम ध्यान देता था। इसके अलावा उसकी राजनीतिक स्थिति भी इस लायक नहीं थी कि वह अंग्रेजों को मुँहतोड़ जवाब दे सकता। झाँसी की रानी भी जनरल ह्यूम रोज के नेतृत्व में अंग्रेज सेना से लड़ते लड़ते वीरगति को प्राप्त हो गई। बाद में जनरल ने उसके बारे में कहा ''यहाँ वह औरत सोई हुई है, जो विद्रोहियों की एक मात्र मर्द थी''। सच बात यह है कि झाँसी की रानी तथा बिहार के कुँवरसिंह को छोड़कर किसी अन्य नेता ने विद्रोहियों का हार्दिक समर्थन नहीं दिया। इसके अलावा, विद्रोहियों के पास अस्त्र–शस्त्रों की भारी कमी थी। जब तक गोला–बारूद बचा रहा वे लड़ते रहे, बाद में या तो उन्होंने आत्म समर्पण कर दिया या मृत्यु के शिकार हो गये।

जितना भी आधा–अधूरा नेतृत्व बागियों को मिल पाया वह ऐसे लोगों से आया जो राजनीति की दृष्टि से सम्मानित थे अवश्य, किन्तु उनके पास एक नियोजित ढ़ंग से काम करने की क्षमता नहीं थी। यातायात के साधन इतने कम थे कि इन नेताओं का परस्पर संबंध स्थापित नहीं हो सका। इसके अलावा, इन लोगों ने जनता की भागीदारी की ओर ध्यान नहीं दिया। समाज से ज्यादातर समृद्ध और पढ़े लिखे लोगे, जो हरदर्जे के स्वार्थी भी थे, कभी भी अंग्रेजों के खिलाफ खड़े नहीं हुए। उनका ज्यादा ध्यान इस तरफ रहा कि किस प्रकार उनको अंग्रेजों के माध्यम से कुछ लाभ हो सकता है। अगर कुछ ऐसे व्यक्ति होते जो जनता के सभी वर्गों के लोगों का ध्यान अंग्रेजों की शोषण की नीति की तरफ मोड़ सकते तो जनता का अधिक सहयोग मिल सकता था। जब दिल्ली को दुबारा अंग्रेजों ने अपने अधीन किया तो उस वक्त उनकी सेना में हिन्दुस्तानी सिपाही ही ज्यादा थे। इससे प्रत्यक्ष प्रमाण मिलता है कि इस विद्रोह की मौलिक प्रेरणा किसी हद तक अंग्रेजों का विरोध अवश्य थी, किन्तु इससे भी अधिक व्यक्तिगत स्वार्थों की पूर्ति थी। यहाँ तक भी हम कह सकते हैं कि जिन नेताओं ने इस विद्रोह में भाग लिया वे भी पूर्णरूपेण निस्वार्थ नहीं थे। वे इस प्रक्रिया में इस लिए कूद पड़े थे क्योंकि उनको अंग्रेजों से व्यक्तिगत रंजिश थी। यह नहीं कहा जा सकता कि उस वक्त कोई व्यापक राष्ट्रीय भावना काम कर रही थी। अगर अंग्रेजों ने हिन्दुस्तानी सिपाहियों का तिरस्कार न किया होता और आम जनता को तथा सामंतों को कई प्रकार की आर्थिक कठिनाईयों में न डाला होता तो विद्रोह पैदा ही न होता।

सन् 1859 तक लगभग सारे नेता या तो मारे गये, कैद कर लिये गयें, या भाग गये। दिल्ली के अंग्रेजों के अधीन पुनः आ जाने के बाद विद्रोही हताश हो गये। नये नेतृत्व की भी कोई आशा नहीं बची। धीरे–धीरे विद्रोह समाप्त हो गया। प्रोफेसर विपिनचन्द्र ने लिखा है ''यदि किसी ऐतिहासिक घटना का महत्व उसकी तात्कालिक उपलब्धियों तक सीमित नहीं होता, तो 1857 का विद्रोह भी महज एक ऐतिहासिक ट्रेजेडी नहीं थी। अपनी विफलता में भी इसने एक महान उद्देश्य की पूर्ति की। यह उस राष्ट्रीय आंदोलन का प्रेरणा स्रोत बन गया, जिसने वह हासिल कर दिखाया, जो विद्रोह हासिल न कर सका।''

1857 का विद्रोह महज एक ऐतिहासिक ट्रेजेडी नहीं थी– यह निष्कर्ष किसी आधार पर ही निकाला जा सकता है। किसी ऐतिहासिक घटना का महत्व इतिहास की दृष्टि से अपनी सफलता पर बहुत हद तक निर्भर करता है। कुछ भी उपलब्ध न होने से उसके मूल्यांकन की दिशा अवश्य बदल जाती है। यह विद्रोह बाद की सफल घटना (1947) की स्वतंत्रता प्राप्ति) का प्रेरणा स्रोत था– इसमें कोई संदेह नहीं, इस अर्थ में इसका अपना महत्व है, किन्तु यह भी जान लेना आवश्यक है कि उस वक्त की परिस्थिति में इस विद्रोह ने क्या हासिल किया ? अगर यह एक विद्रोह मात्र न होता और एक राष्ट्रवादी संघर्ष के रूप में प्रकट होता तो आने वाली पीढ़ी को अगले 90 वर्ष का इंतजार न करना पड़ता। 1857–58 में अंग्रेज जिस स्थिति में थे उस स्थिति में उनको बाहर भगाना मुश्किल अवश्यक था, किन्तु कदाचित असंभव नहीं। ऐसा नहीं किया जा सका– इस वस्तुस्थिति का भी अपना एक महत्व है। कोई भी आन्दोलन, चाहे वह राजनैतिक हो, आर्थिक हो, धार्मिक हो या सामाजिक, तब तक सफल नहीं हो सकता जब तक उसके पीछे एक नियोजित, तर्क संगत और सशक्त वैचारिक योजना न हो। जब व्यक्ति संगठित होकर लड़ते हैं तो उनका ध्येय व्यक्तिगत न होकर सामाजिक होता है। अगर ऐसा नहीं है तो आन्दोलन असफल हो जाता है। 1857 के विद्रोह की बागडोर सिपाहियों के हाथ में थी और उनके माध्यम से यह कुछ अन्य मृतप्राय सामंती शक्तियों के हाथ में चली गई। इसके

पीछे न कोई आस्था थी, न योजना, न कोई सर्वसम्मत ध्येय। इसका असफल होना अवश्यम्भावी था। हॉ, एक बात भूली नहीं जा सकती। उस समय की सामाजिक पृष्ठभूमि में यह एक अप्रत्याशित घटना थी जिसने अंग्रेजी हुकूमत को पहली बार यह अहसास कराया कि महज दमनकारी नीतियों से काम नहीं चल सकता। स्वतंत्रता जिस तरह से हासिल की जा सकती है उसका इतिहास 1857 से नहीं उसके बाद शुरू होता है।

सन् 1857 में यह अप्रत्याशित घटना घटी जो पूर्णरूपेण असफल रही। इसके वास्तविक महत्व की खोज इसकी असफलता में नहीं बल्कि इसकी असफलता के कारणों में खोजी जानी चाहिए।

इसकी असफलता का मुख्य कारण यह था कि इसकी उपज एक ऐसे प्रतिरोध से हुई थी जिसका आधार एक निर्बल धार्मिक भावना थी। अंग्रेज हमको धर्मच्युत करना चाहते हैं– इस भावना से सिपाही विद्रोह की उत्पत्ति हुई। कहीं पर भी इस भावना का प्रमाण नहीं मिलता कि विद्रोही सिपाही देश प्रेम की भावना से प्रेरित थे। अगर हम इस विद्रोह को प्रथम स्वतंत्रता संग्राम महज इसलिए कह दें क्योंकि अंग्रेज इतिहासकारों ने इसको सिपाही विद्रोह कहा है, तो यह युक्तिसंगत नहीं होगा। जैसा कि पं. नेहरू ने भी महसूस किया था, इस विद्रोह के पीछे कुछ असंगठित तत्वों का स्वार्थ था जो एक सामंतवादी व्यवस्था के हिस्से मात्र थे, कारतूसों को मुॅह में न लगाना, समुद्र पार न जाना, विदेशियों के सम्पर्क में न आना ये कुछ ऐसी बातें थी जिनमें चाहे जितना सच हो, उनको किसी देशव्यापी आन्दोलन का रूपा नहीं दिया जा सकता। विद्रोह के पीछे की मूलभावना एक दकियानूसी रूढ़िवादिता पर आधारित थी। ऐसी स्थिति में प्रबुद्ध नागरिकों का समर्थन सम्भव नहीं था। यद्यपि उन्होंने प्रबुद्ध होने के बावजूद भी अंग्रेजों को बर्दाश्त कर लिया यह एक विसंगति हो सकती है। किन्तु इस वर्ग से यह उम्मीद नहीं की जा सकती थी कि वह इस विद्रोह को सीधा समर्थन देता।

इस तथ्य से ही विद्रोह की असफलता का दूसरा कारण प्रकट होता है। किसी भी मुक्ति आन्दोलन के पीछे एक वैचारिक आधार होना चाहिए। यह आधार भारत में बनना तो अवश्य शुरू हो गया था (ब्रह्म समाज, आर्य समाज, रामकृष्ण मिशन आदि इसके प्रमाण हैं) किन्तु इसका जनता तक अभी पहुॅचाया नहीं जा सका था। इसका यह भी कारण था कि नये जन जागरण के आंदोलन शुरू में एक बौद्धिक जटिलता लिये हुए थे जो जन साधारण की समझ से परे थे। राजा राममोहन राय तथा दयानंद जैसे लोगों के विचार सर्वग्राही नहीं बन सकते थे। उनको समझने समझाने की आवश्यकता थी। 1857 के भारत में इन विचारों का लगभग कोई महत्व नहीं था। इसके अलावा जन जागरण के इन आंदोलनों में सीधे तौर पर राष्ट्रवाद की स्पष्ट भावनायें नहीं थीं। उसकी तरफ कुछ संकेत अवश्य थे। ऐसी अवस्था में जनता को जागरूक करना एक मुश्किल काम था। समाज सुधार का जितना भी कार्य हुआ था या हो रहा था, वह काफी नहीं था। ऐसी स्थिति में जनता के हृदय में देश प्रेम की लहर उत्पन्न कर देना संभव नहीं था। यह स्थिति तो गाँधी के आविर्भाव के बाद ही सम्भव हो सकी थी।

तत्कालीन स्थिति में एक स्वेच्छामूलक भावना का उदय अगर सम्भव था तो सिर्फ आर्थिक शोषण के अहसास से था। लोग दयनीय स्थिति में थे। उनकी कृषि, उनकी शिल्पकारी, उनके उद्योग धन्धे शनैः शनैः नष्ट हो रहे थे। वे इस बात को जानते थे, किन्तु इस बात को वे पनी नियति मान बैठे थे। इस भयावह स्थिति से निकलने का कोई मार्ग न पाकर वे इसे सहज रूपा से स्वीकार कर चुके थे। कुछ यह बताने वाले लोग भी मौजूद थे कि अंग्रेज ही शासन के योग्य हैं। वे तो दास रहने के लिए ही पैदा हुए हैं। इन विषम आर्थिक स्थितियों के बीच अगर

कोई उनको यह बताने वाला होता जो काम बाद में दादाभाई नौरोजी, गोखले आदि ने किया कि उनकी आर्थिक विपन्नता का कारण उनका निष्क्रिय नियतिवाद है तो सम्भवतः 1857 के स्वर्ण अवसर को वे न चूकते। यही एक ऐसा मुद्दा था जिसको प्रचारित करके आन्दोलन को प्रखर रूपा से चलाया जा सकता था। ऐसा नहीं हुआ और आंदोलनकारियों को कोई प्रत्यक्ष कारण नहीं मिल सका जिसको प्रसारित कर वे अपने विद्रोह को सशक्त बनाते।

इन सब कारणों के पीछे जो सबसे महत्वपूर्ण कारण माना जा सकता है वह था नेतृत्व का अभाव कोई ऐसी संस्था या संगठन नहीं था जो नियोजित ढ़ंग से विद्रोहियों का मार्ग दर्शन करता। न कोई नीति थी, न कोई नियोजन। पूरा कार्यक्रम मारकाट तक ही सीमित हो गया। यह स्पष्ट था कि केवल सैनिक शक्ति के माध्यम से सिपाही विद्रोह सफल नहीं हो सकता था। यह बात सर्वप्रथम गांधी ने अनुभव की और जब भी शक्ति का दुरूपायोग होता था वे आंदोलन वापस ले लेते थे। विद्रोहियों के बीच कोई ऐसा नेता नहीं था जो समय की आवश्यकता को समझ कर कदम उठाता। आन्दोलनकारी ऐसी स्थिति में विद्रोह तो कर सकते थे और उन्होंने किया भी, किन्तु विद्रोह की धारा को अपने हित की ओर मोड़ सकने में वे असमर्थ रहे। ऐसा तभी सम्भव था जब एक मजबूत नेतृत्व के माध्यम से या एक सशक्त राजनैतिक संस्था के माध्यम से स्थिति का सही मूल्यांकन किया जाता। इन दोनों के अभाव में विद्रोह का असफल होना स्वाभाविक था। अगर नेता या नेतृत्व सही न हो तो आन्दोलन गलत दिशा की ओर चला जाता है किन्तु यदि नेतृत्व या नेता हो ही नहीं, तो एक ही बात सम्भव है, असफलता।

कारण और भी कई खोजे जा सकते हैं, किन्तु उसकी आवश्यकता नहीं है। चाहे जो भी और जितने भी कारण रहे हों, इस घटना से एक बात अवश्य सिद्ध होती है, वह यह कि अंग्रेजों ने शुरू से ही जिस शोषण वृत्ति का अनुसरण किया था वह भारतीयों को प्रारम्भ से ही खलने लगी थी। इसी बैचेनी का पहला प्रत्यक्ष लक्षण था 1857 का विद्रोह। यह अपने आप में कोई महती क्रांति नहीं थी, कोई गरिमामयी राष्ट्रीय विद्रोह नहीं था, कोई स्वेच्छा मूलक राष्ट्रीय भावना की अभिव्यक्ति नहीं थी, किन्तु इसमें एक बड़ी क्रांति का आरंभ 1857 में नहीं, इसके पश्चात् होता है। इसके बिना भी यह क्रांति होती, क्योंकि अंग्रेजों की नीति कई अंतर्विरोधों से ग्रस्त थी। 1857 के विद्रोह को इस क्रांति का जननी नहीं कहा जा सकता, लेकिन इसकी वजह से कुछ ऐसी बातें हुई जैसे 1885 में कांग्रेस स्थापना जो सम्भवतः इतनी जल्दी न होती। 1857 के विद्रोह का यही मुख्य ऐतिहासिक महत्व है।

1857 के विद्रोह के सम्बन्ध में एक और बात ध्यान में रखनी चाहिए। इस असफल विद्रोह का एक भयंकर परिणाम यह हुआ कि इसके अनुभव ने भारतीयों तथा अंग्रेजों दोनों के बीच एक नस्ली विरोध उत्पन्न कर दिया। दोनों ही ओर से निर्मम हत्यायें की गई। कई अवसरों पर निर्दोष व्यक्तियों पर अत्याचार किए गये। इसी भावना की पुनरावृत्ति एक बार फिर 1942 की अगस्त क्रांति में हुई 'टाइम्स' के सम्वाददाता रसेल ने अपनी डायरी में लिखा–

''गदरों ने दोनों नस्लों के बीच इतनी अधिकी घृणा और दुर्भावना पैदा कर दी है कि शासकों का परिवर्तन मात्र भारत पर असर डालने वाली बुराईयों के लिए दवा का काम नहीं करेगा। वे क्रुद्ध भावनायें घृणा और दुर्भावना का सबसे गंभीर प्रदर्शन है। बहुत वर्षों के बाद ही इन उपद्रवों द्वारा उभरे तीव्र आवेगों का शमन होगा। शायद विश्वास पुनः कभी प्रतिष्ठित नहीं होता और अगर ऐसा हुआ तो भारत में हमारे राज के कायम रहने से इतना कष्ट होगा, जिसका अनुमान करना भी भयानक है।''

अंग्रेजों को सम्बोधित करते हुए लार्ड क्रोमर ने लिखा था : ''मैं चाहता हूँ कि अंग्रेजों की नवयुवक पीढ़ी भारतीय गदर के इतिहास को पढ़े, ध्यान से देखे सीखे और मन में पचाये, यह शिक्षाओं और चेतनावनियों से भरा है।''

भारत के आगे का इतिहास इस बात का प्रमाण है कि अंग्रेजों ने इस अनुभव से अगर कुछ सीखा या शिक्षा ली तो सिर्फ यह कि इस तरह की घटनायें न होने देने के लिए एकमात्र उपाय है कूटनीति का सहारा। उनकी कूटनीति अगले लगभग 90 वर्षों तक सफल रही, इसमें संदेह नहीं।

हाँ भारतीयों ने इस विद्रोह के अनुभव से एक बात अच्छी तरह से सीखी। वे इस बात से आश्वस्त हो गये कि अंग्रेजों के खिलाफ हिंसात्मक लड़ाई नहीं लड़ी जा सकती।

1857 जैसे विद्रोह का असफल होना अप्रत्याशित नहीं था। भारतीय नेताओं को इस बात का पूर्ण अहसास हुआ कि बिना एकता के भारत के लोगों को क्रियाशील करना सम्भव नहीं है। 1885 के बाद जब कांग्रेस की स्थापना हो चुकी थी, इसी दिशा की ओर कदम बढ़ाया गया। भाग्यवश भारत को कुछ ऐसे नेताओं की सेवायें उपलब्ध हो गई जो केवल विद्रोह करना ही नहीं जानते थे बल्कि वैचारिक दृष्टि से भी पूर्णतया परिपक्व थे। उन्होंने जल्दबाजी भी नहीं दिखाई, उन्होंने अंग्रेजों द्वारा थोपे गये राजनैतिक तथा आर्थिक तंत्रों का समुचित अध्ययन किया और फूँक–फूँक कर आगे कदम रखना शुरू किया। यही वैचारिक परिपक्वता भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन की आधार शिला बनी। 1857 के विद्रोह की स्मृतियाँ, विद्रोह की असफलता के बावजूद भी, पूरे आन्दोलन के दौरान भारतवासियों के मस्तिष्क पर छाई रहीं। वे आन्दोलनकारियों के लिए प्रेरणा का एक स्रोत बन गई, वास्तव में, जैसा कि स्नेह महाजन ने कहा है, ''1857 के विद्रोह की यादों ने अंग्रेजों को विद्रोह से भी अधिक हानि पहुँचाई।''

1857 का विद्रोह असफल रहा, किन्तु इसने अंग्रेजी शासन को झकझोर अवश्य दिया। अंग्रेज भारत को मैकाले की आँखों से देखने के आदी हो चुके थे। वे भारत को असभ्य, असंस्कृत, गँवार और निरीह लोगों का देश समझने लगे थे। उन्होंने एक मिथक की सृष्टि कर ली थी कि भारत इतना पिछड़ा हुआ देश है कि उसको अंग्रेजों के संरक्षण की ही आवश्यकता है। मैकाले ने भारत में गंवारपन के अलावा और कुछ नहीं पाया। 1835 में उसने अपनी रिपोर्ट में लिखा था : ''जब हम विशुद्ध दर्शन और वास्तविक इतिहास के दर्शन को प्रोत्साहन दे सकते हैं तो क्या हम सरकारी खर्च पर निम्नलिखित विषय पढ़ाये जाने का अनुमोदन करेंगें, चिकित्सा सिद्धांत, जिन पर अंग्रेजी पशु चिकित्सकों को लज्जा आयेगी, ज्योतिष, जिस पर अंग्रेजी विद्यालयों की बलिकायें हॅस पड़ेगी, इतिहास, जिसमें तीस फुट लम्बे राजाओं और तीस हजार वर्षों तक चलने वाले राज्यकालों का वर्णन है, और भूगोल जिसमें शीरे और मक्खन के समुद्रों का वर्णन है।''

इस तरह की तस्वीरों को अंग्रेज यथार्थ मान चुके थे। उनका ख्याल था कि भारतीय हर हाल में गुलाम बनाये जा सकते हैं। 1830–55 के बीच के कई प्रमाण मिलते हैं जिनसे यह पता चलता है कि अंग्रेज भारतीयों से किसी प्रकार के सक्रिय प्रतिरोध की आशा नहीं करते थे। जिन स्थितियों में भारतीय सिपाहियों को उन्होंने अपनी छावनियों में रखा था उनसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि वे भारतीयों को जन्मजात गुलामों के अतिरिक्त और कुछ नहीं समझते थे। जो भेदभाव अंग्रेज अफसर अंग्रेज सिपाहियों तथा भारतीय सिपाहियों के बीच करते थे उससे भी स्पष्ट प्रकट होता है कि वे भारतीयों को हिकारत की नजर से देखते थे, जिस भेदभावपूर्ण व्यवहार का अनुसरण अंग्रेजों ने किया उससे स्पष्ट है कि वे 1857 जैसे विद्रोह की कल्पना भी नहीं कर रहे थे। विद्रोह के कारण तो सब मौजूद थे, और अंग्रेजों को भी इन

कारणों का अहसास था, किन्तु वे यह नहीं समझते थे कि सात रूपाया माहवार पाने वाले सिपाही उनके विरूद्ध खड़े होंगे। 1857 की प्रवृत्ति ने जैसे उनको नींद से जगा दिया। पहली दफा उनको अहसास होने लगा कि भारत की आत्मा में विद्रोह की सम्भावनायें मौजदू हैं।

इन सम्भावनाओं को प्रस्फुटित होने में कुछ समय लगा। अभी उस आधार का निर्माण नहीं हुआ था जो किसी व्यापक आन्दोलन की सफलता के लिए आवश्यक होता है। विद्रोह की असफलता के कई कारणों में एक कारण यह भी था कि विद्रोह किसी वैचारिक धरातल पर अवस्थित नहीं था। इस दिशा में 19 वीं शताब्दी के मध्य से काम शुरू हो चुका था, भारत के चिन्तक भारत की वर्तमान अवस्था का मूल्यांकन करने में जुटे थे। जब तक अपनी कमजोरियों का अहसास नहीं होता, तब तक किसी महान उपलब्धि का कार्यक्रम नहीं बन सकता। 1850 के बाद भारत में कई धार्मिक आन्दोलनों की शुरूआत हुई। ये आन्दोलन मूलतः धर्म पर आधारित थे किन्तु ये सुधारवादी आन्दोलन भी थे। यही कारण है कि इनके माध्यम से भारत में नव जागरण की एक लहर सी छा गई। एक नयी चेतना का प्रादुर्भाव हुआ। इस नयी चेतना के प्रकाश में भारतीयों को अपनी पराधीनता का गहराई से अहसास होने लगा, इसी अहसास के कारण और 1857 की क्रांति के अनुभवों के आधार पर, भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन की नींव पड़ी।

## संदर्भ ग्रंथ सूची


- **आर.सी. अग्रवाल** : प्राचीन एवं मध्यकालीन भारत का सांस्कृतिक एवं राजनैतिक इतिहास विकास, पब्लिशिंग हाऊस प्रा.लि. नई दिल्ली–1981
- **ओमप्रकाश पुरोहित 'प्रकाश** : बुन्देलखण्ड का इतिहास (महाभारत काल से 21 वीं सदीं तक) नंदनपुरा, झांसी 2004
- **डॉ. शभूदयाल गुरू** : मध्यप्रदेश में स्वाधीनता आन्दोलन (1857 से 1950) हिन्दी ग्रंथ अकादमी 2007
- **डॉ. विश्वप्रकाश गुप्ता** :स्वतंत्रता संग्राम और महिलाए नमन प्रकाशन दिल्ली, 1990
- **डॉ. सुधा जैन** : जंग ऐ आजादी में बुन्देलखण्ड की देशी रियासतें
- **डॉ. ज्योति प्रसाद जैन** : भारतीय इतिहास एक दृष्टि ज्ञानपीठ प्रकाशन नई दिल्ली, 1966
- **जी.के. अग्रवाल एवं एस.एस. पाण्डेय** : सामाजिक शोध एवं सांख्यिकी, पब्लिसर्स डिस्टीब्युटरर्स प्रा.लि.
- **पी.बी. यंग** : साइंटिफिक सोशल सर्वे एण्ड रिसर्च एशिया पब्लिशिंग हाउस मुबंई 1960
- **आशा गुप्ता** : बाल गंगाधर तिलक, आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली 2001
- **विनोद कुमार** : भारत के गौरव भाग–1, 2 व 3, सूचना प्रकाशन विभाग, भारत सरकार मंत्रालय 2006.
- **डॉ. गणेश प्रसाद** : स्वाधीनता संग्राम से सत्ता हस्तांनातरण, आत्मराम एण्ड संस दिल्ली 1999.
- **डॉ. सीताराम** : भारतीय स्वतंत्रता संग्राम की रूपरेखा, बिहार हिन्दी ग्रंथ अकादमी पटना, 1981.
- **गंगाधर नारायण** : भारतीय स्वंत्रता आन्दोलन का इतिहास, हिन्दी प्रसारण संस्थान बनारस 1989.

- **डॉ. सुशील पाठक** : भारतीय स्वाधिनता आन्दोलन का इतिहास, बिहार हिन्दी ग्रंथ अकादमी पटना 1988.
- **गोविन्दराम वर्मा :** भारतीय राजनीतिक व्यवस्था मैकमिलन इण्डिया मद्रास, 1977.
- **डॉ. वी.पी. वर्मा :** आधुनिक भारतीय राजनैतिक चितंन, लक्ष्मीनारायण प्रकाशन आगरा, 1998.
- **डॉ. सुभाष कश्यप** : स्वतंत्रता आन्दोलन का इतिहास, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, 1997.
- **ए.आर. देसाई** : भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि मैकमिलन इण्डिया मद्रास, 1881
- **रामविलास शर्मा** : स्वाधीनता संग्राम बदलते परिप्रेक्ष्य, दिल्ली विश्वविद्यालय हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, 1992.
- **कमलापति त्रिपाठी** : स्वतंत्रता आन्दोलन और उसके बाद राज्यपाल एण्ड संस दिल्ली, 1988.
- **डॉ. पुखराज जैन** : भारत में स्वतंत्रता आन्दोलन का इतिहास, साहित्य भवन आगरा, 1988
- **अयोध्या सिंह** : भारत का मुक्ति संग्राम मैकमिलन इण्डिया लिमिटेड मद्रास, 1987.
- **पुखराज जैन** : भारत का राष्ट्रीय आन्दोलन व भारतीय संविधान, साहित्य प्रकाशन आगरा, 2004.
- **डॉ. के.सी. जैन :** भारत का राष्ट्रीय आन्दोलन एवं संविधानिक विकास पब्लिशिंग हाउस नई दिल्ली 1990
- **मोती लाल त्रिपाठी** : बुन्देलखण्ड का इतिहास, लक्ष्मी प्रकाशन झांसी 1991.
- **गोरे लाल तिवारी** : बुन्देलखण्ड का इतिहास, काशी नागरी प्रचारिणी सभा 1990
- **आर.सी. अग्रवाल** : राष्ट्रीय आंदोलन तथा भारतीय संविधान का विवेचन, एस. चन्द्र एण्ड कम्पनी रामनगर नई दिल्ली 1981
- **जे.पी. सूद :** भारत का राष्ट्रीय आन्दोलन तथा वैधानिक विकास दिल्ली 1956.
- **मन्मनाथ गुप्त** : क्रांतिकारी आन्दोलन का इतिहास, 1950.
- **भगवानदास श्रीवास्तव** : बुन्देलखण्ड में स्वाधीनता आन्दोलन 1857–60, शांति प्रकाशन 10/2 भूतल अंजलि काम्पलेक्स तुलसीनगर, भोपाल 462003
- झांसी का पुराना गजेटियर, प्रकाशन वर्ष 1909
- **कल्याण सिंह कुडरा** :वीरांगना लक्ष्मीबाई रासो, दतिया (1953) सम्पादक हरिमोहन लाल श्रीवास्तव दतिया
- **श्री द्वारिकेश मिश्र** :झांसी की रानी लक्ष्मीबाई चरित (आल्हा) श्रीराम प्रेस, बुन्देल भारती प्रकाशन झांसी
- **कैलाश मडवैया** : बानपुर बुन्देलखण्ड का विस्मृत वैभव, 75 चित्रगुप्त नगर, कोटरा, भोपाल
- **विनायक दामोदर सावरकर** : 1857 का स्वतंत्रता संग्राम, हिन्द पाकेट बुक्स प्रा. लि. जी.टी. रोड, शाहदरा दिल्ली 32
- **योगेन्द्र नाथ गुप्ता** : झांसी की रानी, इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद (1963)
- **कार्लमार्क्स फे. एंगेल्स** : भारत का प्रथम स्वतंत्रता संग्राम (1857–59) पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस नई दिल्ली (1963)

- **मदनेश :** लक्ष्मीबाई रासो, प्रकाशक यमुना माहौर, एम.एम.एल.टी. 69/1, 1 टोरिया नरसिंह राव, झांसी (1969)
- **वासुदेव गोस्वामी :** विद्रोही बानपुर, वासुदेव गोस्वामी सहायोगी प्रकाशन मंदिर लि. दतिया (1954)
- **डॉ. काशीप्रसाद त्रिपाठी :** बुन्देलखण्ड का बृहद इतिहास (राजतंत्र से जनतंत्र) त्रिपाठी भारत भवन, पुरानी टेहरी टीकमगढ़ (1991)
- **भगवानदास श्रीवास्तव** :झांसी की रानी असमंजस में, शांति प्रकाशन, एच. 25, बधौरा अपार्टमेन्ट अरेरा कालौनी भोपाल 1993
- **गोरेलाल तिवारी नागरी** : बुन्देलखण्ड का संक्षिप्त इतिहास, प्रचारिणी सभा 1933
- **भगवानदास श्रीवास्तव** : बांदा का बागी नवाव, वर्ग अकादमी बांदा छावनी (1997)
- **अमृत लाल नागर :** आंखों देखा गदर (माझा प्रवास) राजपाल एण्ड सन्स कश्मीरी गेट दिल्ली 1998
- **सुन्दर लाल** : भारत में अंग्रेज राज, भाग–2, ओंकार प्रेस, इलाहाबाद 1938
- **लखपतराम शर्मा :** रत्नों और खजानों का देश भारत, भू.पू.एम.एल.ए. 61, सिविल लाईन, झांसी 1976.
- **यज्ञदत्त शर्मा** : बुन्देलखण्ड समग्र, एम. एल.सी. 50, गुसाईपुरा, झांसी सम्पादक डॉ.हरीमोहन अग्रवाल 1998
- **कार्ल मार्क्स** : भारतीय इतिहास पर टिप्पणियॉं, इण्डिया पब्लिशर्स, लखनऊ 1857 श्री निवास बालाजी हार्डीकर (1965) सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली
- **प्राणनाथ वानप्रस्थी :** झांसी की रानी (1997) शिक्षा भारती कश्मीरी गेट, दिल्ली
- **हीरालाल व्यास** : विश्व बसकरन, बुन्देलखण्ड शोध संस्थान श्री लक्ष्मी व्यायाम मंदिर झांसी (1984)
- **गोपी चन्द्र नागर :** जय झांसी की रानी बाल साहित्य, श्याम शिव प्रकाशन, नया रायगंज सीपरी बाजार, झांसी 284003
- **डॉ. सैयद अतहर अब्बास रिजवी** : स्वतंत्र दिल्ली, हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उ.प्र. (1968)
- **भगवान दास श्रीवास्तव :** 1858 की क्रांति और विद्रोही राजा बखतवल (1965), शांति प्रकाशन 10/2 भूतल अंजलि काम्पलेक्स, तुलसी नगर, भोपाल
- **डॉ. रूद्र किशोर पाण्डेय :** झांसी, आदित्य रश्मि प्रकाशन लश्कर ग्वालियर म.प्र.
- **विष्णु गोडसे :** माझा प्रवास (मराठी मूल)
- **डॉ. नन्दलाल चटर्जी** : मीर कासिम, इण्डियन प्रेस इलाहाबाद
- **डॉ. आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव :** अवध के प्रथम दो नवाब (1933) शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी प्रा.लि. आगरा
- **लक्ष्मन सिंह गौर :** ओरछा इतिहास, रामराजा मंदिर, ओरछा 1993–94 संस्करण
- **अशांत त्रिपाठी** : बुन्देलखण्ड का इतिहास, शारदा साहित्य कुटीर 86, पुरानी नजाई, झांसी
- **पं. कृष्णदास :** बुन्देलखण्ड का इतिहास, संतोष भवन, स्टेट बैंक के पास छतरपुर म.प्र.
- **डॉ. भगवानदास गुप्त :** महाराजा छत्रसाल बुन्देला, म.प्र. हिन्दी ग्रंथ अकादमी, रवीन्द्रनाथ ठाकुर मार्ग, भोपाल

*Copyright © 2017, Dr Kishan Yadav. This is an open access refereed article distributed under the creative common attribution license which permits unrestricted use, distribution and reproduction in any medium, provided the original work is properly cited.*